गायत्री मंत्र के दे अक्षर की व्याख्या

इंद्रिय संयम

श्रीराम शर्मा आचार्य

बुद्धि की देवी गायत्री के प्रत्येक उपासक के लिए स्वाध्याय भी उतना ही आवश्यक धर्म कृत्य है, जितना जप, ध्यान, पाठ आदि। बिना स्वाध्याय के, बिना ज्ञान की उपासना के बुद्धि पवित्र नहीं हो सकती, मानसिक मलीनता दूर नहीं हो सकती और इस सफाई के बिना माता का सच्चा प्रकाश कोई उपासक अपने अंतःकरण में अनुभव नहीं कर सकता। जिसे स्वाध्याय से प्रेम नहीं, उसे गायत्री उपासना से प्रेम है, यह नहीं माना जा सकता। बुद्धि की देवी गायत्री का सच्चा भोजन स्वाध्याय ही है। ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं। इसलिए गायत्री उपासना के साथ ज्ञान की उपासना भी अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

□ प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

□ लेखक : पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
□ पुनरावृत्ति : २०१४
□ मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
□ मूल्य : ४.०० रुपये

सौजन्य से :

इंद्रिय संयम का महत्त्व

गायत्री का ग्यारहवाँ अक्षर 'दे' हमको इंद्रियों पर नियंत्रण रखने की शिक्षा देता है—

देयानि स्ववशे पुंसा स्वेन्द्रियाण्यखिलानि वै।
असंयतानि खादन्तीन्द्रियाण्येतानि स्वामिनम्॥

अर्थात— "अपनी इंद्रियों को वश में रखना चाहिए। असंयत इंद्रियाँ स्वामी का नाश कर देती हैं।"

इंद्रियाँ आत्मा के औजार हैं, सेवक हैं। परमात्मा ने इन्हें इसलिए प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकताएँ पूरी हों और सुख मिले। सभी इंद्रियाँ बड़ी उपयोगी हैं। सभी का कार्य जीव को उत्कर्ष और आनंद प्राप्त कराना है। यदि उनका सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य निरंतर जीवन का मधुर रस चखता हुआ जन्म को सफल बना सकता है।

किसी भी इंद्रिय का उपयोग पाप नहीं है। सच तो यह है कि अंत:करण की विविध क्षुधाओं को, तृषाओं को तृप्त करने का इंद्रियाँ एक उत्तम माध्यम हैं, जैसे—पेट की भूख-प्यास को न बुझाने से शरीर का स्वास्थ्य और संतुलन बिगड़ जाता है, वैसे ही सूक्ष्मशरीर की ज्ञानेंद्रियों की क्षुधा उचित रीति से तृप्त नहीं की जाती तो आंतरिक क्षेत्र का संतुलन बिगड़ जाता है और अनेक प्रकार की मानसिक गड़बड़ी पैदा होने लगती है।

इंद्रिय भोगों की बहुधा निंदा की जाती है। उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि अनियंत्रित इंद्रियाँ स्वाभाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन करके इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ्य और धर्म के लिए संकट उत्पन्न कर देती हैं। आजकल अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार इंद्रियों के गुलाम हैं। वे अपनी वासनाओं पर काबू नहीं रखते। बेकाबू हुई वासना अपने स्वामी को खा जाती है।

इसलिए यह परम आवश्यक है कि इंद्रियाँ हमारे काबू में रहें, वे अपनी मनमानी करके चाहे जब, चाहे जिधर न घसीट सकें, बल्कि जब

हम स्वयं आवश्यकता अनुभव करें, जब हमारा विवेक निर्णय करे, तब उचित आंतरिक भूख को बुझाने के लिए उनका उपयोग करें। यही इंद्रियनिग्रह है। निग्रहीत इंद्रियों से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र तथा अनियंत्रित इंद्रियों से बढ़कर शत्रु और कोई नहीं है।

इंद्रिय-नियंत्रण का मूलमंत्र—'आत्मसंयम'

आत्मनियंत्रण ही स्वर्ग द्वार है। यह प्रकाश तथा शांति की ओर ले जाता है। उसके बिना मनुष्य नरकवासी है। वह अशांति और अंधकार में विलीन है। आत्मसंयमी न होने से मनुष्य अपने माथे पर घोर दु:खों को मढ़ता है। उसके दु:ख और संताप उसे तब तक हैरान करते रहेंगे, जब तक वह आत्मनियंत्रण का कार्य आरंभ नहीं कर देता। इसकी प्रतिस्पर्द्धा करने वाली कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो इसकी स्थानपूर्ति कर सके। आत्मसंयम आरंभ करके कोई आदमी जितना अपना उपकार कर सकता है, उससे अधिक हित करने वाली संसार की कोई शक्ति नहीं है।

आत्मनियंत्रण से मनुष्य अपने दैवी गुणों को प्रकाशित करके दैवी ज्ञान तथा शांति का भागी होता है। उसका अभ्यास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। निर्बल मनुष्य भी इसी समय से इसका अभ्यास आरंभ कर सकता है। जब तक वह इस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, वह निर्बल बना रहेगा अथवा संभावना है कि उसकी निर्बलता बढ़ती जाए। जो आत्मा को अपने वश में नहीं करते, अपने हृदय को शुद्ध नहीं बनाते, ईश्वर के प्रति उनकी सब प्रार्थनाएँ व्यर्थ हैं। जो कलहमूलक, अज्ञानता तथा कुप्रवृत्तियों में लिपटे रहेंगे, उनका ईश्वर की सर्वज्ञता में विश्वास करना न करना बराबर है।

जो मनुष्य पर-दोषरत जिह्वा को ठीक नहीं करना चाहता, क्रुद्ध स्वभाव का दास बना रहना चाहता है और अपवित्र विचारों का उत्सर्ग नहीं कर सकता, उसे न तो कोई बाह्य शक्ति सन्मार्ग पर ला सकती है और न उसके किसी धार्मिक बात के समर्थन तथा विरोध से ही उसकी भलाई हो सकती है। मनुष्य अपने अंतर्निहित अंधकार पर विजय पाकर ही सत्य के प्रकाश का दर्शन पा सकता है।

खेद है कि मनुष्य आत्मसंयम के परम गौरव का अनुभव नहीं करता। वह इसकी निस्सीम आवश्यकता को नहीं समझता और फलत: आध्यात्मिक स्वतंत्रता तथा वैभव जिनकी तरफ यह मनुष्य को प्रेरित करता है, मनुष्य की दृष्टि-पथ से छिपे रहते हैं। इसी कारण मनुष्य

कुवासनाओं का दास बना रहता है। पृथ्वी-मंडल पर फैले हुए बलात्कार, अपवित्रता, रोग तथा दु:खों पर दृष्टि दौड़ाइए और देखिए कि कहाँ तक आत्मसंयम की कमी इन सबका कारण है। तब आप इसका पूर्ण अनुभव करेंगे कि आत्मनियंत्रण की कितनी अधिक आवश्यकता है? आत्मसंयम पुण्य की प्रथम सीढ़ी है। इससे सद्गुणों की प्राप्ति होती है। सुव्यवस्थित तथा सच्चे धार्मिक जीवन की यह सर्वप्रथम आवश्यकता है।

प्रलोभनों से सदैव सावधान रहिए

इंद्रियों के कुमार्गगामी होने का सबसे प्रधान कारण भाँति-भाँति के प्रलोभन होते हैं। प्रलोभन एक ऐसा आकर्षक मोहचक्र है, जिसका कोई स्वरूप, आकार, स्थिति, अवस्था नियत नहीं है, किंतु फिर भी वह नाना रूपों में मानव मात्र को ठगने, पदच्युत कर पथभ्रष्ट कर देने के लिए आता है। जीवन में आने वाले बहुत से मायावी प्रलोभन इतने मनमोहक, लुभावने और मादक होते हैं कि क्षण भर के लिए विवेकशून्य हो अदूरदर्शी बन हम विक्षिप्त से हो उठते हैं, हमारी चिंतनशील सत्प्रवृत्तियाँ पंगु हो उठती हैं तथा हम विषय वासना, आर्थिक लोभ, स्वार्थ, संकुचिततावश प्रलोभन के शिकार बन जाते हैं। अंततः उनसे उत्पन्न होने वाली हानियों, कष्टों, त्रुटियों, अपमान तथा प्रतिष्ठा से दग्ध होते रहते हैं। प्रलोभन जीवन की मृगतृष्णा है तो बुद्धि का भ्रम मोह का मधुर रूप।

लालच के रूप अनेक हैं—कभी-कभी आप सोचते हैं, मैं धनवान बनूँ, ऊँचा रहूँ, मेरे ऊपर लक्ष्मी की कृपा रहे। इस उद्देश्य सिद्धि के हेतु आप रिश्वत, काला बाजार, झूठ, फरेब, कपट, हिंसा आदि करके रूपये हड़पते हैं। ठेकेदार, ओवरसियर, इंजीनियर तक रिश्वत में हिस्सा लेते हैं। रेलवे, पुलिस, चुंगी इत्यादि विभागों में भ्रष्टाचार इसी स्वार्थ और संकुचितता के कारण फैले हुए हैं। डॉक्टर और वकील रोगी और मुवक्किलों से अधिकाधिक ऐंठना चाहते हैं। बाजार में खराब माल देकर अथवा निम्न कोटि की वस्तुओं का सम्मिश्रण कर व्यापारी खूब लाभ कमाना चाहते हैं। सिक्के ने जैसे मानवीयता का शोषण कर लिया हो, ऐसा जान पड़ रहा है, प्रलोभन के अनेक रूप हैं—

"अमुक व्यक्ति की पत्नी मेरी पत्नी की अपेक्षा अधिक सुंदर है, मुझे भी सुंदर पत्नी प्राप्त होनी चाहिए। मैं तो अमुक अभिनेत्री जैसी स्त्री से विवाह करूँगा।"

"अमुक व्यक्ति का मकान सुंदर है। अमुक के पास आलीशान कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, सुंदर वस्त्र, फर्नीचर इत्यादि हैं। मैं भी किसी प्रकार उचित-अनुचित कैसे ही उपायों से वस्तुएँ, सुविधाएँ प्राप्त करूँ। अमुक मुझसे ऊँचे पद पर आसीन हो गया, मैं भी छल-बल-कौशल से रुपया दे-दिलाकर यही पद प्राप्त करूँ।"

अमुक व्यक्ति बड़ा सुस्वाद भोजन खाता है—मिठाई, पूरी, पकवान, मेवे, दूध, रबड़ी आदि बढ़िया से बढ़िया वस्तुएँ नित्य चखता है। मैं भी किसी अच्छे-बुरे उपाय से ये चीजें प्राप्त करूँ। ऐसा सोचते-सोचते जैसे ही कोई तनिक सा प्रलोभन आपको देता है कि आप बिना सोचे-समझे उसके समक्ष घुटने टेक देते हैं। रुपया, कमीशन, डाली, फल, मुफ्त सेवा, नाना उपहार ले लेना सब प्रलोभन के ही स्वरूप हैं, इनका कोई आदि-अंत नहीं। समुंद्रों की तरंगों की भाँति वे आते ही रहते हैं।

नैतिक दृष्टि से कमजोर चरित्र वाले व्यक्ति आसानी से प्रलोभन के शिकार बनते हैं। जिनकी आवश्यकताएँ, विलासी इच्छाएँ, चटोरपन, अनुचित माँगें, नशे बढ़े हुए हैं। वे प्रायः प्रलोभनों के सामने झुकते हुए देखे गए हैं। जिन्हें दान, दहेज, यात्राएँ, भौतिकता, टीपटाप का शौक है, वे लालच में फँसते हैं। कभी-कभी सहज सात्विक बुद्धि वाले भी दूषित वातावरण के प्रभाव से प्रलोभनों के चक्कर में आ जाते हैं।

विषयों में रमणीयता का भास बुद्धि के विपर्यय से होता है। बुद्धि के विपर्यय में अज्ञान-संभूत अविद्या प्रधान कारण है। इस क्षणिक भावावेश, अदूरदर्शिता के ही कारण हमें प्रलोभन में रमणीयता का मिथ्या बोध होता है। प्रलोभन से तृप्ति एक प्रकार की मृगतृष्णा मात्र है।

प्रलोभन में मुख्यतः दो तत्त्व कार्य करते हैं—उत्सुकता एवं दूरी। ईसाइयों के मतानुसार आदिपुरुष एडम (आदम) का स्वर्ग से पतन 'ज्ञानवृक्ष' के फल को चखने की उत्सुकता के ही कारण हुआ था। उन्हें आदेश मिला था कि वे अन्य सब वृक्षों के फलों को चख सकते हैं, केवल उसी वृक्ष से बचते रहें। जिस बात के लिए हमें रोका जाता है, अप्रत्यक्ष रूप से उसके प्रति हम अधिकाधिक आकृष्ट होते हैं। अतः आदम को वर्जित फल के प्रति उत्सुकता उत्पन्न हो गई। औत्सुक्य से प्रभावित होने के कारण उस फल में रमणीयता का भास हुआ। उन्होंने चुपचाप प्रलोभन के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। पर ईश्वर ने उन्हें इसकी बड़ी सजा दी थी।

इंद्रियों को तृप्त करने के नाना साधन या पदार्थ हमसे दूर रहते हैं, जिन्हें हम दैनिक जीवन में नहीं पाते, जिनका स्वाद हमने नहीं उठाया है, वे ही दूरी के कारण हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं। वास्तव में रमणीयता किसी बाह्य जगत की वस्तु में नहीं है। वह हमारी कल्पना तथा उत्सुकता की भावनाओं की प्रतिच्छाया मात्र है, वस्तु को आकर्षक बनाने वाला हमारा मन है जो क्षण-क्षण नाना वस्तुओं पर मचल-मचल जाता है, नई वस्तुओं की ओर हमें बरबस खींच ले जाता है। कभी वह जिह्वा को उत्तेजित कर हमें सुस्वादु वस्तुओं की ओर आकृष्ट करता है। कहीं कानों को मधुर संगीत सुनने के लिए खींचता है। कहीं हमारी वासना को उद्दीप्त कर मादक वृत्तियों को उत्तेजित कर देता है। मन की कोई भी गुप्त अतृप्त इच्छा प्रलोभन का रूप धारण कर लेती है। विवेक का नियंत्रण ढीला पड़ते ही मन हमें स्थान-स्थान पर बहकाता फिरता है अथवा विवेक पर आवरण (परदा तमोवृत्ति, इंद्रिय दोष, बीमारी, प्रमाद) पड़ा रहने से बुद्धि तिरोहित हो जाती है। फलतः हम पतन की ओर जाते हैं, हमारा वातावरण गंदा हो जाता है, हम दूसरों को धोखा देते हैं, विवेक पर परदा रहने से ही दुष्ट पुरुष विद्या को विवाद में, धन को अहंकार और विलास में, बल को परपीड़ा में लगाते हैं, निर्बलों को सताते हैं। अतः मन पर सतर्कता से अंतर्दृष्टि रखनी चाहिए।

जैसे युद्ध करते समय जागरूक संतरी को यह ध्यान रखना पड़ता है कि न जाने शत्रु का कब आक्रमण हो जाए, कब-किस रूप में शत्रु प्रकट हो जाए, उसी प्रकार मनरूपी चंचल शत्रु पर तीव्र दृष्टि और विवेक को जागरूक रखने की अति आवश्यकता है। जहाँ मन आपको किसी इंद्रिय संबंधी प्रलोभन की ओर खींचे, वहीं उसके विपरीत कार्य कर उसकी दुष्टता को रोक देना चाहिए।

मन बड़ा बलवान शत्रु है। वासना और कुविचारों का जादू इस पर बड़ी शीघ्रता से होता है। बड़े-बड़े संयमी व्यक्ति वासना के चक्कर में आकर मन को न रोक सकने के कारण पथभ्रष्ट हो जाते हैं। मन को शुद्ध करना अत्यंत दुष्कर कृत्य है। इससे युद्ध करने में एक विचित्रता है। यदि युद्ध करने वाला दृढ़ता से युद्ध में संलग्न रहे, निज इच्छाशक्ति को मन के व्यापारों में लगाए रहे तो युद्ध में संलग्न सैनिक की शक्ति अधिकाधिक बढ़ती है और एक दिन वह इस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। यदि तनिक भी इसकी चंचलता में बहक गए तो यह मनुष्य के चरित्र, आदर्श, संयम, नैतिक दृढ़ता, धर्म को तोड़-फोड़कर सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है।

मन को दृढ़ निश्चय पर स्थिर रखने और उसी पर एकाग्र ध्यान रखने से मुमुक्षु की इच्छाशक्ति प्रबल बनती है। मन का स्वभाव मनुष्य की इच्छा के अनुकूल बन जाने का है। इसे जिन विषयों की ओर दृढ़ता से एकाग्र कीजिए, वही कार्य करने लगेगा। वह व्यर्थ, निश्चेष्ट, निष्क्रिय नहीं बैठना चाहता। अच्छाई या बुराई-वह किसी न किसी ओर निश्चय आकृष्ट होगा। यदि आप शुभ रचनात्मक समुन्नत कार्यों में उसे न लगाएँगे तो वह बुराई की ओर चलेगा। यदि आप उसे पुष्प-पुष्प विचरण करने वाली मधुलोभी तितली बना देंगे-जो रूप, रस और गंध पर मड़राए तो वह आपको अवश्य किसी भयंकर स्थिति में डाल देगा। यदि आप उसे उद्दंड रखेंगे तो वह दिन-रात असंख्य स्थानों पर भ्रांतिमति रहेगा। यदि आप शुभ इष्ट पदार्थों के सुविचारों में उसे स्थिर रखेंगे तो वह आपका सबसे बड़ा मित्र बन जाएगा।

जब-जब अपने अंत:करण में विषय वासना का प्रबल संघर्ष उत्पन्न होता हो, तब-तब नीर-क्षीर विवेकी निश्चयात्मिका बुद्धि को जाग्रत कीजिए। मन से थोड़ी देर पृथक रहकर इसके कार्य व्यापारों पर तीव्र दृष्टि रखिए, वह कुविचार, कुत्सित चिंतन, वासना का तांडव कुकल्पना चक्र टूट जाएगा और आप मन के साथ चलायमान न होंगे। मन के व्यापार के साथ निज आत्मा की समस्वरता न होने दें। इसी अभ्यास द्वारा वह आज्ञा देने वाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञाकारी, अनुचर बन जाएगा—

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मन के मत चलिए नहीं, पलक पलक मन और॥

प्रमाद में फँसी इंद्रियों के सुख में स्थिरता नहीं है। इंद्रियाँ सुख-दु:ख रूप हैं। यह अस्थिर और क्षणिक हैं। इनका आनंद आवरण मात्र है। इंद्रिय-सुख के लिए मनुष्य को अनेक कुचक्रों, कुटिल नीतियों का अवलंबन लेना पड़ता है। एक सुख की लालसा में मनुष्य अधिकाधिक उलझता ही जाता है। एक इंद्रिय को तृप्त करते-करते मनुष्य दूसरी, तीसरी, अधिकाधिक सांसारिकता में लिप्त होता ही जाता है। अंतत: पापयोनि को प्राप्त होता है। जब तक मन और इंद्रियों पर पूरा नियंत्रण नहीं होता, तब तक सुख की आशा करना व्यर्थ है। मन पर निरंतर कड़ी दृष्टि रखिए। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में हमें मन पर तीखी निगाह रखने की ओर निर्देश किया है—

असंयतात्मना योगोदुष्प्राप्य इति में मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुमायतः॥ (६/३६)

'मन को संयमित न करने वाले पुरुष के द्वारा योग दुष्प्राप्य है। स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष के द्वारा ही योग प्राप्त होता है। इष्टसिद्धि प्राप्त होती है।'

अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में करने में बहुत सहायता मिलती है। गीता में मन को भगवान में एकाग्र करने का अमूल्य उपदेश है—

यतो-यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैदतदत्मन्येव वशं नयेत्॥ (६/२६)

यह स्थिर और चंचल मन जिस-जिस कारण से संसार में जाए, उससे हटाकर इसे आत्मा में लगाएँ।

सुखरूप भासने वाले विषय वासना के प्रलोभन में कदापि न फँसिए, मन के विपरीत चलिए। परमात्मा का जो रूप आपको विशेष आकर्षक प्रतीत होता हो, उसी में मन बुद्धि को एकाग्र करने का सतत अभ्यास करते रहिए। वैराग्य और शुभ चिंतन के अभ्यास से ही प्रलोभन से मुक्ति मिल सकती है।

वासनाओं को जीतने के लिए आध्यात्मिक चिंतन

जिन लोगों के मन पर वासनाओं ने अधिकार जमा लिया है और जो इसके फलस्वरूप इंद्रियों के दास बन चुके हैं, उनका छुटकारा सहज में नहीं होता। वे विषयों की बुराइयाँ जानकर भी निर्बलता अथवा मोहवश उनके फंदे से नहीं निकल पाते। ऐसे लोगों को निरंतर सत्संगति और आध्यात्मिक चिंतन की आवश्यकता पड़ती है। इन वासनाओं में प्रायः कामवासना ही सर्वप्रधान होती है और सबसे पहले उसी के निग्रह की चेष्टा की जानी चाहिए।

स्त्री की प्रतिमूर्ति अथवा स्मरण मन को क्षुब्ध करता है। कामवासना शक्तिशाली होती है। यह एक कुसुम धनुष साथ लेकर चलती है, जिसमें मोहन, स्तंभन, उन्मादन, शोषण और पतनरूपी पाँच वाण सजे होते हैं। विवेक, विचार, भक्ति और ध्यान इस घोर राग का मूलोच्छेद करते हैं। यदि काम पर विजय प्राप्त हुई तो क्रोध, लोभ आदि जो उसके शस्त्र हैं, आप ही कुंठित हो जाएँगे। राग का प्रथम अस्त्र रमणी है। यदि इसे मन से नष्ट किया गया तो इसके अनुवर्ती और परिजन बड़ी आसानी से जीते जाएँगे। यदि सेनापति मारा गया तो सैनिकों को मार डालना आसान हो

जाएगा। वासना पर विजय प्राप्त करो। फिर क्रोध को जीत लेना आसान हो जाएगा, केवल क्रोध ही वासना का अनुवर्ती है।

सैनिक जैसे ही दुर्ग से बाहर निकलें, उन्हें एक-एक करके मार डालो। अंत में तुम्हारा दुर्ग पर आधिपत्य हो जाएगा। इसी प्रकार प्रत्येक संकल्प को जो मन में उठे एक-एक करके नष्ट कर दो। अंत में तुम्हारा मन पर अधिकार हो जाएगा।

विचार, शांति, ध्यान और क्षमा के द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करो। जो मनुष्य तुम्हारी हानि करता हो, उसके ऊपर दया करो और उसे क्षमा कर दो। उलाहने को प्रसाद समझो, उसे आभूषण जानो तथा अमृततुल्य मानो। भर्त्सना को सह लो। सेवा, दया और ब्रह्मभावना के द्वारा विश्वप्रेम का विकास करो। जब क्रोध पर विजय प्राप्त हो जाएगी तो धृष्टता, अहंकार और द्वेष स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे। प्रार्थना और भजन से भी क्रोध दूर हो जाता है।

संतोष, अभेद, विराग तथा दान के द्वारा लोभ का शमन करो। अभिलाषाओं को मत बढ़ाओ। तुम्हें कभी निराश न होना पड़ेगा। संतोष के राज्य के चार संतरियों की सहायता से तुम ब्रह्मज्ञान, जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हो।

अनुराग के पीछे-पीछे शोक और दुःख भी लगे रहते हैं। अनुराग शोक से मिश्रित होता है। सुख के पीछे दुःख चलता है, जहाँ सुख है, वहाँ दुःख भी है। अनुराग के नाम पर मनुष्य दुःख का विषमय बीज वपन करता है, जिससे शीघ्र ही स्नेह के अंकुर निकल आते हैं, जिसमें बिजली के समान भयानक दाहकता होती है और इन अंकुरों से अनेक शाखाओं से युक्त दुःख का वृक्ष उत्पन्न होता है, जो ढके हुए घास के ढेर के समान जलते हुए, धीरे-धीरे शरीर को दग्ध कर डालता है। बराबर इस संसार की असारता पर विचार करो। राग से मोह उत्पन्न होता है। यह सभी जानते हैं कि जब किसी मनुष्य की पालतू चिड़िया को बिल्ली खा जाती है तो उसे दुःख होता है, परंतु यदि बिल्ली किसी दूसरी गौरैया या चूहे को खाती है, जिससे उसका कुछ संबंध नहीं होता, तो वह कुछ भी दुःख प्रकट नहीं करता। अतः तुमको उस अनुराग का मूलोच्छेद करना चाहिए जो व्यर्थ की आसक्ति का कारण होता है। शरीर असंख्य कीटाणुओं को उत्पन्न करता है, जिन्हें दूर करने के लिए लोग आतुर होते है, परंतु एक को वह बच्चे के नाम से पुकारते हैं जिसके लिए उनका जीवन क्षीण होता है। सांसारिक मोह इसी

प्रकार का होता है। अनुराग की गाँठ उस महा मोह से दृढ़ होती है जो मनुष्य के हृदय को चारों ओर से सूत्र के समान ग्रंथित किए हुए है। अनुराग से छुटकारा पाने का प्रधान उपाय है—यह चिंतन करना कि यह संसार एक असार वस्तु है। इस महान जगत से असंख्य पिता, माता, पति, स्त्री, बच्चे तथा पितामह चले गए हैं। तुम्हें अपनी मित्र मंडली को विद्युत की क्षणिक छटा के समान समझना चाहिए और इसका अपने मन में पुनः-पुनः चिंतन करते हुए शांति करनी चाहिए।

मन को शून्य कर दो। शोक के महान आघातों से बचने का एकमात्र यही उपाय है। संकल्प को दबा देना कठिन है। और जब एक बार दबा दिया जाता है तो संकल्पों की एक नवीन शृंखला उत्पन्न होती है जो मन को आक्रांत कर देती है। किसी स्थिर वस्तु के ऊपर चित्त जमाओ। तुम मन को रोकने में सफल होगे। आत्मा में संकल्पों को एकत्र करो, जिस प्रकार ग्रीष्म में मनुष्य पोखर के शीतल जल में जाकर अपने शरीर को ठंढा करता है। हरि का सतत ध्यान करो, जो श्याम रंग के हैं तथा जो गले में बहुमूल्य हार धारण करते हैं एवं भुजाओं, कानों और सिर को आभूषणों से अलंकृत किए हुए हैं।

जब विषय तुम्हें व्यथित कर, सम्मोहित करे तब विचार, विवेक और सात्विक बुद्धि का सदा प्रयोग करो। इंद्रियों को भ्रांत करने वाला अहंकार जो मन को आच्छादित करता है, जब विवेक द्वारा नष्ट हो जाता है तो मृगमरीचिका के जल के समान वह अन्य भ्रांतिजनक पदार्थों में आ जाता है। बार-बार विवेक का आश्रय लो जब तक ज्ञान में तुम्हारी स्थिति न हो जाए। वस्तुतः विवेक की शक्ति महान है।

जब तुम्हारे संकल्प जो बिखरे हुए हैं, एकत्रित किए जाएँगे और तुम शांत अवस्था में आओगे तो शाश्वत आत्मा चमक उठेगी, जैसे—सूर्य स्वछ जल के ऊपर चमकता दीख पड़ता है। शांति धन, दारा या भोग में नहीं रहती। जब मन संकल्पहीन हो जाता है तो आत्मा चमक उठती है और शाश्वत आनंद तथा शांति की वर्षा करती है। फिर तुम बाहरी विषयों में व्यर्थ ही सुख के लिए क्यों भटकते हो? अंदर खोजो अपने आनंद के लिए अपने भीतर सत्चित, आनंद का अमृत आत्मा में ढूँढ़ो।

आवेशों से बचना आवश्यक है

इंद्रियनिग्रह का मूल मंत्र अपने को आवेशों से बचाए रहना है। जिस व्यक्ति के भीतर तरह-तरह के मनोवेगों का तूफान उठता रहता है,

उसका मानसिक संतुलन स्थिर नहीं रह सकता और इससे वह इंद्रियों को वशीभूत रखने में भी असमर्थ हो जाता है। इसीलिए जो लोग इंद्रियों को संयत रखना चाहें उनको अपने मनोवेगों पर भी सदैव दृष्टि रखना आवश्यक है।

भूतकाल की बीती हुई दु:खदाई घटनाओं को स्मरण करके कितने ही मनुष्य अपने आप को बेचैन बनाए रहते हैं। किसी प्रियजन की मृत्यु, पैसे की हानि, अपमान, विछोह आदि की कटु स्मृतियों को वे भुला नहीं पाते और सदा कुढ़ते एवं जलते रहते हैं। इसी प्रकार कितने ही मनुष्य भविष्य की कठिनाइयों को हल करने की चिंता में जला करते हैं। लड़की के विवाह के लिए इतना रुपया कहाँ से आवेगा? बुढ़ापे में क्या खाएँगे? लड़के कुपात्र निकले तो प्रतिष्ठा कैसे कायम रहेगी? गरीबी आ गई तो कैसे बीतेगी? इतना धन इकट्ठा न हो पाया तो अमुक कार्य कैसे पूरा होगा? अमुक ने सहारा न दिया तो कैसी दुर्दशा होगी? अमुक आपत्ति आ गई तो भविष्य अंधकारमय हो जाएगा आदि अनेकों प्रकार के भावी संकटों की चिंता में रक्त-मांस को सुखाते रहते हैं। भूत का शोक और भविष्य का भय इतना त्रासदायक होता है कि मस्तिष्क का अधिकांश भाग उसी में उलझा रहता है। वर्तमान समय की गुत्थियों को सुलझाने और सामने पड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिए शक्तियों का बहुत थोड़ा भाग बचता है। उस बचे-खुचे आंशिक मनोबल से जो थोड़ा सा काम हो पाता है, उतने मात्र से व्यवस्थाक्रम यथावत नहीं चल सकता है। फलस्वरूप गति अवरोध उत्पन्न होकर जीवन की बधिया बैठ जाती है। इस उलझन भरी दशा में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कितने ही मनुष्य आत्महत्या कर लेते हैं, पागल हो जाते है, घरबार छोड़कर भाग जाते हैं या दु:खदाई कार्य कर बैठते हैं, कितने ही घोर निराशावादी या सनकी हो जाते हैं, कितने ही इस अशांति के भार से कुछ देर के लिए छूट जाने का सत्यानाशी प्रयत्न करते हैं। आवेशों से मानसिक तंतुओं को सदा उत्तेजित रखना, अपने आप को जलती मशाल से झुलसाते रहने के समान है। आवेश जीवन की अस्वाभाविक दशा है, उनसे शक्तियों के भयंकर रूप का नाश होता है। डॉक्टरों ने पता लगाया है कि यदि मनुष्य साढ़े चार घंटे लगातार क्रोध से भरा रहे तो लगभग आठ औंस खून जल जाएगा और इतना विष उत्पन्न हो जाएगा जितना कि एक तोला कुचला से उत्पन्न होता है। चिंता की अधिकता से हड्डियों के भीतर रहने वाली मज्जा सूख जाती है, फलस्वरूप

निमोनिया, इन्फ्लुऐंजा सरीखे रोगों के आक्रमण का अंदेशा बढ़ जाता है। ऐसे लोगों की हड्डियाँ टेढ़ी पड़ जाती हैं और नियत स्थान से ऊपर आ जाती हैं। कनपटी की, गले की, कंधे की, कान के पीछे की हड्डियाँ यदि ऊपर उभर आई हों तो कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति चिंता में घुला जा रहा है। लोभी और कंजूस को कब्ज की शिकायत बनी रहती है और आएदिन जुकाम बना रहता है। भय और आशंका से जिनका कलेजा काँपता है, उनके शरीर में लोहू और क्षार की मात्रा कम हो जाती है। बाल झड़ने लगते हैं और सफेद होने लगते हैं। शोक के कारण नेत्रों की ज्योतिक्षीणता, गठिया, स्मरण शक्ति की कमी, स्नायविक दुर्बलता, बहुमूत्र, पथरी, सरीखे रोग हो जाते हैं। ईर्ष्या, द्वेष एवं प्रतिहिंसा की जलन के कारण तपैदिक, दमा, कुष्ठ सरीखी व्याधियाँ उत्पन्न होती देखी गईं हैं। कारण स्पष्ट है, इन मानसिक आवेशों के कारण एक प्रकार का अंतर्दाह उत्पन्न होता है। अग्नि जहाँ रहती है, वहाँ जलाती है। अंतर्दाह की अग्नि में जीवन के उपयोगी तत्त्व ईंधन की भाँति जलते रहते हैं, जिससे देह भीतर से खोखली हो जाती है। जहाँ अग्नि जलती है, वहाँ ऑक्सीजन खरच होती है और कार्बन गैस उत्पन्न होती है। अंतर्दाह की प्रक्रिया से भी अनेकों विष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण शरीर तरह-तरह के रोगों का घर बन जाता है और कुछ ही समय में इतना सड़-गल जाता है कि जीवात्मा को असमय में ही उसे छोड़कर भागने के लिए विवश होना पड़ता है।

आवेशों का तूफान न शारीरिक स्वास्थ्य को कायम रहने देता है और न मानसिक स्वास्थ्य को। वैद्य को नाड़ी पकड़ने से चाहे कोई रोग भले ही न मालूम पड़े, पर वस्तुतः आवेश की अवस्था में जीवन की उतनी ही क्षति होती रहती है, जितनी कि बड़े-बड़े भयंकर रोगों के समय होती है। यह सर्वविदित है कि रोगी मनुष्य शारीरिक दृष्टि से एक प्रकार का अपाहिज बन जाता है। वह चाहता है कि काम करूँ लेकिन होता कुछ नहीं। जरा देर काम करने पर थककर चूर हो जाता है, मन वहाँ जमता ही नहीं। काम को छोड़कर लेट जाने या कहीं चले जाने की तबीयत करती है। करता कुछ है किंतु हो कुछ जाता है, जरा देर के काम में काफी समय खरच हो जाता है, सो भी ठीक तरह होता नहीं। जब निरीक्षण किया जाता है तो भूल पर भूल निकलती है। आवेश में भरा हुआ मनुष्य आधा पागल बन जाता है, वह कभी सर्प की तरह फुसकारता है, कभी व्याघ्र

की तरह मुँह फाड़कर खाने को दौड़ता है। कभी ऐसा दीन और कातर हो जाता है कि विलाप करने, रोने, विरक्त बनने, आत्महत्या करने के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही नहीं पड़ता। मेरे इस आचरण का भविष्य में क्या परिणाम होगा यह सोचने में उसकी बुद्धि बिलकुल असमर्थ हो जाती है।

जीवन को समुन्नत दिशा की ओर ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि विवेक बुद्धि ठीक प्रकार काम करे, विवेक बुद्धि की स्थिरता के लिए निराकुलता आवश्यक है। दर्पण या पानी में प्रतिबिंब तभी दिखाई पड़ सकता है, जब वह स्थिर हो। यदि दर्पण या पानी हिल रहा हो तो उसमें प्रतिबिंब भी ठहर न सकेगा। मस्तिष्क में जब उफान आ रहे हों तो विवेक स्थिर नहीं रह सकता। ठीक पथ प्रदर्शन कराने वाली बुद्धि तभी उद्भूत होगी जब मन शांत हो, स्थिर हो, निराकुल हो। किसी काम की अच्छाई, बुराई, हानि, लाभ, सुविधा, कठिनाई आदि की ठीक-ठीक कल्पना करने और अनेक दृष्टियों से विचार करके किसी अंतिम निर्णय पर पहुँचने की क्षमता रखने वाला विवेक तभी मस्तिष्क में रह सकता है, जब आवेशों में उद्विग्नता न हो। जो कार्य भली प्रकार आगा-पीछा सोचकर आरंभ नहीं किए जाते हैं, जोश और उतावली में बिना बिचारे जिन कार्यों को आरंभ किया जाता है, प्राय: उन्हें बीच में ही छोड़ने को विवश होना पड़ता है।

अध्यात्म विद्या के प्राय: सभी ग्रंथों में मन को रोकने, चित्तवृत्तियों को एकाग्र करने, मन को वश में करने का पग-पग पर आदेश किया है। अनेक साधनाएँ मन को वश में करने की बताई गई हैं। यह मन को वश में करना और कुछ नहीं 'निराकुलता' ही है। दु:ख-सुख, हानि-लाभ, जय-अजय के कारण उत्पन्न होने वाले आवेशों से बचना ही योग की सफलता है। गीता कहती है—

यहि न ब्यथयन्त्येत्ते पुरुषं पुरुषर्ष भ।
सम दु:खं सुखं धीरं सोऽमत्वीय कल्पते॥२-१५॥
सुखे दु:खे समे कृत्वा लाभा लाभौ जयाजयौ॥३-३८॥
दु:खे ष्वनुद्विग्न मनः सुखेबु बिगतस्पृहः।
बीत राग भय क्रोधस्थित धी मुनिरुच्यते॥२-५६॥
न प्रहृष्येत्पियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राव्यचप्रियम्।
स्थिर बुद्धिरसं मूढो ब्रह्मविद ब्रह्मणि स्थित:॥५-२०॥

आदि अनेक स्थलों पर निराकुलता को योग की सफलता बताया गया है। आवेश सुखप्रधान और दु:खप्रधान दोनों प्रकार के हैं। शोक, हानि, बिछोह, रोग, दंड, भय, विपत्ति, मृत्यु, क्रोध, अपमान, कायरता आदि हानिप्रधान आवेश हैं। कुछ आवेश लाभप्रधान भी होते हैं—लाभ, संपत्ति, मिलन, कुटुंब, बल, सत्ता, पद, धन, मैत्री, विद्या, बुद्धि, कला, विशेषता आदि के कारण एक प्रकार का नशा चढ़ आता है। इस प्रकार की कोई संपत्ति जब बड़ी मात्रा में यकायक मिल जाती है तब तो मनुष्य हर्षोन्मत हो जाता है। उसकी दशा अर्द्धविक्षिप्त जैसी हो जाती है। सुख के मारे लोग फूले नहीं समाते, वे कस्तूरी हिरन की तरह इधर-उधर दौड़े फिरते हैं, चित्त बल्लियों उछलने लगता है। जब कोई संपत्ति स्थायी रूप से मिल जाती है तो उसका अहंकार चढ़ जाता है। उसे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो मैं साधारण मनुष्यों की अपेक्षा सैकड़ों गुना भारी हूँ। वैभव के मद में वह इतराता है, दूसरों का अपमान करके अपनी महत्ता का प्रदर्शन करता है।

ऐसे अहंकार के नशे में मदहोश पड़े हुए लोगों को अपनी प्रेस्टिज-पोजीशन-मान-बड़ाई-बड़प्पन-खातिर की बड़ी चिंता रहती है। इसके लिए हर काम में बहुत अधिक फजूलखरची की सामग्री को जुटाने के लिए अनुचित साधन जुटाने पड़ते हैं, अनेकों प्रकार की बुराइयाँ ओढ़नी पड़ती हैं। इस प्रकार एक तो अहंकार के नशे की जलन, दूसरे उस नशे को बनाए रहने के साधनों की चिंता, दोनों प्रकार की आकुलताएँ मन में कुहराम मचाए रहतीं हैं। दु:खप्रधान आवेशों से अंत:करण में जैसी अशांति रहती है वैसी ही सुखप्रधान आवेशों में भी उत्पन्न हो जाती है। इन दोनों से ही बचना आवश्यक है। दोनों से ही स्वास्थ्य एवं विवेक की क्षति होती है। गीता आदि शास्त्रों में इसीलिए दोनों प्रकार के आवेशों-द्वंद्वों से दूर रहने का जोरों से प्रतिपादन किया गया है।

जीवन को समुन्नत देखने की इच्छा करने वालों के लिए आवश्यक है कि अपने स्वभाव को गंभीर बनाएँ। उथलेपन, लड़कपन, छिछोरेपन की जिन्हें आदत पड़ जाती है, वे गहराई के साथ किसी विषय में विचार नहीं कर सकते। किसी समय मन को गुदगुदाने के लिए बालक्रीड़ा की जा सकती है, पर वैसा स्वभाव न बना लेना चाहिए। आवेशों से बचे रहने की आदत बनानी चाहिए, जैसे समुद्र तट पर रहने वाले पर्वत नित्य टकराते रहने वाली समुद्र की लहरों की परवाह नहीं करते। इसी प्रकार

अपने को भी उद्वेगों की उपेक्षा करना चाहिए। खिलाड़ी खेलते हैं, कई बार हारते हैं, कई बार जीतते हैं, कई बार हारते-हारते जीत जाते हैं, कई बार जीतते-जीतते हार जाते हैं। कभी-कभी बहुत देर हार-जीत के झूले में यों ही झूलते रहते हैं। परंतु कोई खिलाड़ी उसका अत्यधिक असर मन पर नहीं पड़ने देता। हारने का कोई सिर धुनकर क्रंदन नहीं करता और जीतने पर न कोई अपने को बादशाह मान लेता है। हारने वालों के होठों पर झेंप भरी मुस्कराहट रहती है और जीतने वाले के होठों पर जो मुस्कराहट रहती है, उसमें सफलता की प्रसन्नता मिली होती है। इस थोड़े से स्वाभाविक भेद के अतिरिक्त और कोई विशेष अंतर जीते हुए तथा हारे हुए खिलाड़ी में नहीं दीख पड़ता, विश्व के रंगमंच पर हम सब खिलाड़ी हैं। खेलने में रस है, वह रस दोनों दलों को समान रूप से मिलता है। हार-जीत तो उस रस की तुलना में नगण्य चीज है।

मनोवृत्तियों का सदुपयोग

इस प्रकार के हानिकारक आवेशों से मुक्त रहकर यदि मनोवृत्तियों का उपयोग किया जाए तो वे हानि पहुँचाने की बजाय हितकर ही सिद्ध होंगी। सर्वथा संसार त्यागियों की तो बात छोड़ दीजिए पर अधिकांश मनुष्यों को जो संसार में रहते हैं और जिनको भली-बुरी सभी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, सभी मनोवृत्तियों से काम लेना आवश्यक होता है। इसलिए हमारा कर्त्तव्य यही है कि अपनी मनोवृत्तियों और इंद्रियों को ऐसी ही सधी हुई अवस्था में रखें।

मनुष्य की जो मनोवृत्तियाँ जन्म से ही दी गई हैं, वे सब उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। यदि उनको ठीक प्रकार से प्रयोग में लाया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति अत्यंत सुख-शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है। हम देखते हैं कि दुर्भाग्यवश लोग उनका सदुपयोग करना नहीं जानते और उन्हें बुरे मार्ग से खरच्च करके अपने लिए तथा दूसरों के लिए दुःखों की सृष्टि करते हैं।

हम देखते हैं कि कई मनोवृत्तियों की संसार में बड़ी निंदा होती है। कहा जाता है कि यह बातें पाप और दुःख की जड़ हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि को जी भर कोसा जाता है और कहा जाता है कि इन्हीं के कारण संसार में अनर्थ हो रहे हैं। इस प्रकार के कथन किस हद तक सही हैं, इसका विचारवान पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

यदि काम बुरी वस्तु है, त्याज्य है, पापमूलक है तो उसका उपयोग न तो सत्पुरुषों को ग्राह्य हो सकता था और न बुरी बात का अच्छा परिणाम निकल सकता था। परंतु इतिहास दूसरी ही बात सिद्ध करता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश विवाहित जीवन व्यतीत करते हैं। व्यास, अत्रि, गौतम, वसिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, च्यवन आदि प्राय: सभी प्रधान ऋषि सपत्नीक रहते थे और संतानोत्पादन करते थे। दुनियाँ में असंख्य पैगंबर, ऋषि, अवतार, महात्मा, तपस्वी, विद्वान, महापुरुष हुए हैं, यह सब किसी न किसी माता-पिता के संयोग से ही उत्पन्न हुए थे। यदि कामसेवन बुरी बात है तो उसके द्वारा उत्पन्न हुए बालक भी बुरे ही होने चाहिए। बुरे से अच्छे की सृष्टि कैसे हो सकती है? कालोंच से सफेदी कैसे निकल सकती है? इन बातों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि 'काम' स्वयं कोई बुरी वस्तु नहीं है। परमात्मा ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति 'मनुष्य' में कोई बुरी बात नहीं रखी। काम भी बुरी बात नहीं, बुरा केवल काम का दुरुपयोग है। दुरुपयोग करने से तो अमृत भी विष बन सकता है। पेट की सामर्थ्य से अधिक अमृत पीने वाले को भी दु:ख ही भोगना पड़ेगा।

क्रोध के ऊपर विचार कीजिए। क्रोध एक प्रकार की उत्तेजना है जो आक्रमण करने से पूर्व, छलांग मारने से पूर्व आनी अत्यंत आवश्यक है। लंबी छलांग कूदने वाले को पहले कुछ दूर से दौड़कर आना होता है, तब वह लंबा कूद सकता है। यदि यों ही शांत खड़ा हुआ व्यक्ति अचानक छलांग मारना चाहे तो उसे बहुत कम सफलता मिलेगी। अपने भीतर घुसी हुई तथा फैली हुई बुराइयों से लड़ने के लिए विशेष उत्साह की आवश्यकता होती है और वह उत्साह क्रोध द्वारा आता है। यदि क्रोधतत्त्व मानव वृत्ति में से हटा दिया जाए तो बुराइयों का प्रतिकार नहीं हो सकता है। रावण, कंस, दुर्योधन, हिरण्यकशिपु, महिषासुर जैसों के प्रति यदि क्रोध की भावनाएँ न उत्पन्न होतीं तो उनका वध कैसे होता? भारत में यदि अंगरेजों के विरूद्ध व्यापक क्रोध न उभरता तो भारत माता आज स्वाधीन कैसे हुई होती? अत्याचारियों के विरुद्ध क्रोध न आता तो परशुराम कैसे अपना फरसा सँभालते? महारानी लक्ष्मीबाई, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी जैसे आदर्श नररत्नों की सृष्टि कैसे होती? अधर्म की बढ़ोत्तरी से कुपित होकर ही भगवान पापों का संहार करते हैं। इससे प्रकट है कि क्रोध बुरा नहीं है।

लोभ को लीजिए! उन्नति की इच्छा का नाम ही लोभ है। स्वास्थ्य, विद्या, धन, प्रतिष्ठा, पुण्य, स्वर्ग, मुक्ति आदि का लोभ ही मनुष्य को क्रियाशील बनाता है। यदि लोभ न हो तो न किसी प्रकार की इच्छा ही उत्पन्न होगी और इच्छा के अभाव में उन्नति के लिए प्रयास करना भी न हो सकेगा। फलस्वरूप मनुष्य भी कीट-पतंगों की तरह भूख और निद्रा को पूर्ण करते हुए जीवन समाप्त कर ले। लोभ उन्नति का मूल है। पहलवान, विद्यार्थी, व्यापारी, किसान, मजदूर, लोकसेवी, पुण्यात्मा, ब्रह्मचारी, तपस्वी, दानी, सत्संगी, योगी आदि सभी अपने दृष्टिकोण के अनुसार लोभी हैं। जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, जो जिस वस्तु का संचय करने में लगा हुआ है, उसे उस विषय का लोभी कहा जा सकता है। अन्य लोभों की भाँति धन का लोभ भी बुरा नहीं है। यदि बुरा है तो भामाशाह का, जमनालाल बजाज का धन संचय भी बुरा कहा जाना चाहिए। परंतु हम देखते हैं कि इनके धन संचय के द्वारा संसार का बड़ा उपकार हुआ। और भी अनेकों ऐसे उदार पुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने धन को सत्कार्य में लगाकर अपनी कमाई को सार्थक बनाया। ऐसे लोभ में और निर्लोभता में कोई अंतर नहीं है। निंदा तो उस लोभ की की जाती है जिसके कारण अनीतिपूर्वक अनुचित धन संचय करके उसको कुवासनाओं की पूर्ति में व्यय किया जाता है, जोड़-जोड़कर अनुपयुक्त अधिकारी के लिए छोड़ा जाता है। लोभ का दुरुपयोग ही बुरा है, वस्तुतः लोभवृत्ति की मूलभूत रूप में निंदा नहीं की जा सकती।

मोह का प्रकरण ऐसा ही है। यदि प्राणी निर्मोही हो जाए तो माताएँ अपने बच्चे को कूड़े-करकट के ढेर में फेंक आया करें, क्योंकि इन बालकों से उनको लाभ तो कुछ नहीं, उलटी हैरानी ही होती है। फिर मनुष्य तो यह भी सोच ले कि बड़ी होने पर हमारी संतान हमें कुछ लाभ देगी, पर बेचारे पशु-पक्षी तो यह भी नहीं सोचते, उनकी संतान तो बड़ी होने पर उन्हें पहिचानती तक नहीं, फिर सेवा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रक्षा की सभी क्रियाएँ मोह के कारण होती हैं। शरीर का मोह, यश का मोह, प्रतिष्ठा का मोह, कर्त्तव्य का मोह, स्वर्ग का मोह, साधन-सामग्री का मोह, यदि न हो तो निर्माण उत्पादन न हो और रक्षा की व्यवस्था भी न की जा सके। ममता का भाव न रहे तो 'मेरा कर्त्तव्य' भी न सोचा जा सकेगा । 'मेरी मुक्ति-मेरा कल्याण' भी कौन सोच सकेगा? अपनी संस्कृति, अपनी देशभक्ति को भी लोग भुला देंगे। एकदूसरे के प्रति प्रेम का बंधन कायम न रह सकेगा और सब लोग आपस में उदासीन की तरह रहा करेंगे। क्या

ऐसा नीरस जीवन जीना कोई मनुष्य पसंद कर सकता है? कदापि नहीं। मोह एक पवित्र शृंखला है जो व्यष्टि को समष्टि के साथ, व्यक्ति को समाज के साथ, मजबूती से बाँधे हुए है। यदि यह कड़ी टूट जाए तो विश्वमानव की सुरम्य माला के सभी मोती इधर-उधर बिखरकर नष्ट हो जाएँगे। मोह का अज्ञानजनित रूप ही त्याज्य है, उसके दुरुपयोग की ही भर्त्सना की जाती है।

इसी प्रकार मद, मत्सर, अहंकार आदि निंदित वृत्तियों के बारे में समझना चाहिए। परमात्मा के प्रेम में झूम जाना सात्विक मद है। क्षमा करना, भूल जाना, अनावश्यक बातों की ओर से उपेक्षा करना एक प्रकार का मत्सर है। आत्मज्ञान को, आत्मानुभूति को, आत्मगौरव को अहंकार कहा जा सकता है। इस रूप में यह वृत्तियाँ निंदित नहीं हैं। इनकी निंदा तब की जाती है, जब यह संकीर्णतापूर्वक तुच्छ स्वार्थों के लिए स्थूल रूप में प्रयुक्त होती हैं।

मानव प्राणी प्रभु की अद्भुत कृति है, इसमें विशेषता ही विशेषता भरी है, निंदनीय एक भी वस्तु नहीं है। इंद्रियाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग हैं, उनकी सहायता से हमारे आनंद में वृद्धि होती है तथा उन्नति में सहायता मिलती है, पुण्य परमार्थ का लाभ होता है। पर यदि इन इंद्रियों को उचित रीति से प्रयुक्त न करके उनकी सारी शक्ति अत्यधिक, अमर्यादित भोग भोगने में खरच कर डाली जाए तो उससे नाश ही होगा, विपत्तियों की उत्पत्ति ही होगी। इस प्रकार काम, क्रोध, मोह, आदि की मनोवृत्तियाँ परमात्मा ने आत्मोन्नति तथा जीवन की सुव्यवस्था के लिए बनाई हैं, इनके सदुपयोग से हम विकास-पथ पर अग्रसर होते हैं। इनका त्याग पूर्ण रूप से नहीं हो सकता, जो इनको नष्ट करने या पूर्णतया त्याग करने की सोचते हैं, वे ऐसा ही सोचते हैं जैसे कि आँख, कान, हाथ, पांव आदि काट देने से पाप न होंगे या सिर काट देने से बुरी बातें न सोची जाएँगी। ऐसे प्रयत्नों को बालबुद्धि का उपहासास्पद कृत्य ही कहा जा सकेगा। प्रभु ने जो हमें शारीरिक और मानसिक साधन दिए हैं, वे उसके श्रेष्ठ वरदान हैं, उनके द्वारा हमारा कल्याण ही होता है। विपत्ति का कारण तो हमारा दुरुपयोग है। हमें चाहिए कि अपने प्रत्येक शारीरिक और मानसिक औजार के ऊपर अपना पूर्ण नियंत्रण रखें, उनसे उचित काम लें, उनका सदुपयोग करें। ऐसा करने से जिन्हें आज निंदित कहा जाता है, शत्रु समझा जाता है, कल वे ही हमारे मित्र बन जाते हैं। स्मरण रखिए कि प्रभु ने हमें श्रेष्ठ तत्त्वों से बनाया है। यदि उनका दुरुपयोग न किया जाए तो जो कुछ हमें मिला हुआ है हमारे लिए सब प्रकार श्रेयस्कर ही है। रसायनशास्त्री जब

विष का शोधन मारण करके उससे अमृतोपम औषधि बना लेते हैं, तो कोई कारण नहीं कि विवेक द्वारा वह अमूल्य वृत्तियाँ जो आमतौर से निंदित समझी जाती हैं, सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली न बन जाएँ।

इंद्रिय संयम और अस्वाद व्रत

अस्वाद का अर्थ है—स्वाद का गुलाम न होना। अस्वाद का यह अर्थ नहीं है कि हम संसार के भोग्य पदार्थों का सेवन न करें, या षटरसों का पान न करें या जिह्वा की रस-ज्ञान की शक्ति को खो दें। अस्वाद व्रत ऐसा नहीं कहता, वह तो कहता है कि शरीर के पोषण, स्वास्थ्य तथा रक्षा के लिए जिन-जिन पदार्थों की आवश्यकता हो उनका अवश्य सेवन करो, परंतु कभी जीभ के चोचले पूरा करने के लिए किसी वस्तु का सेवन न करो। दूसरे स्पष्ट शब्दों में जिह्वा के गुलाम न बनो, उसके ऊपर सदैव अपना स्वामित्व कायम रखो। ऐसे रहो कि वह तुम्हारे आदेश पर चले। ऐसा न हो कि तुम ही उसके संकेतों पर नाचने लगो। विनोबा जी के सुंदर शब्दों में जीभ की स्थिति चम्मच जैसी हो जानी चाहिए "चम्मच से चाहे हलुआ परोसो, चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दुःख नहीं।"

हनुमान जी के भक्तों ने बहुत बार कथा सुनी होगी कि एक दफा विभीषण भगवान राम के पास आए और कहने लगे— "प्रभु! लौकिक तथा पारलौकिक सफलता का साधन क्या है?" भगवान ने कहा कि "यह तो बड़ा सरल प्रश्न है, इसको तो तुमको हनुमान जी से ही पूछ लेना चाहिए था " और यह कहकर उन्हें हनुमान जी के पास भेज दिया। विभीषण ने जब हनुमान जी के पास जाकर पूछा तो उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया पर अपने हाथ से अपनी जीभ को पकड़कर बैठ गए। विभीषण के कई बार कहने पर भी जब हनुमान कुछ न बोले तो विभीषण नाराज होकर भगवान के पास वापस गए और बोले—"भगवान आपने मुझे कहाँ भेज दिया?" भगवान ने कहा— "क्या हनुमान जी ने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया?" विभीषण बोले—"प्रभु! वह क्या उत्तर देंगे? मैंने उनसे कई बार पूछा पर उन्होंने कोई उत्तर तो दिया नहीं बल्कि अपने हाथ से अपनी जीभ को पकड़कर बैठ गए।" भगवान बोले—"विभीषण ! हनुमान जी ने सब कुछ तो बतला दिया और क्या कहते? तुम्हारे प्रश्न का केवल यही उत्तर है कि अपनी जीभ को अपने वश में रखो। यही लौकिक और पारलौकिक सफलता का सबसे सुंदर साधन है।"

श्री महादेव गोविंद रानाडे के जीवन की एक घटना इस अस्वाद व्रत के सही रूप को समझने में हमें बड़ी मदद देगी। कहते हैं कि एक

दिन किसी मित्र ने उनके यहाँ कुछ बहुत स्वादिष्ट आम भेंट में भेजे। उनकी चतुर पत्नी ने उनमें से एक आम को धोकर ठंढा करके, बनाकर एक तश्तरी में उनके सामने रखा। रानाडे ने उसमें से एक-दो टुकड़े खाकर आम की प्रशंसा करते हुए वह तश्तरी अपनी पत्नी को वापस कर दी और कहा कि अब यह तुम खाना और बच्चों को देना। पत्नी ने उत्तर दिया कि उसके और बच्चों के लिए तो और आम हैं तो रानाडे बोले कि फिर नौकरों को दे देना। पत्नी बोली कि नौकरों के लिए भी और आम हैं, आप सब खा लीजिए। जब इस पर भी रानाडे आम खाने को तैयार न हुए तो पत्नी ने कहा कि क्या आम अच्छे नहीं हैं? रानाडे बोले कि आम तो इतने मीठे और स्वादिष्ट हैं कि मैने अपने जीवन में इससे पहले इतने स्वादिष्ट आम कभी खाए नहीं। फिर पत्नी ने पूछा—आपका स्वास्थ्य तो ठीक है? रानाडे बोले—मेरा स्वास्थ्य आज इतना अच्छा है कि कभी नहीं रहा। तब पत्नी ने कहा कि आप भी अजीब बात करते हैं, आम को भी स्वादिष्ट बताते हैं और फिर भी कहते हैं कि अब और न खाऊँगा। रानाडे हँसे और बोले कि आम बहुत सुंदर और स्वादिष्ट हैं इसलिए अब और न खाऊँगा। ऐसा मैं क्यों कर रहा हूँ, उसका कारण सुनो। बात यह है कि बचपन में जब मैं मुंबई में पढ़ता था, तब मेरे पड़ोस में एक महिला रहती थी। वह पहले एक धनी घराने की सदस्या रह चुकी थी। परंतु भाग्य के फेर से अब उसके पास वह धन नहीं था, पर इतनी आय थी कि वह और उसका लड़का दोनों भली प्रकार भोजन कर सकें और अपना निर्वाह कर सकें। वह महिला बड़ी दुखी रहती और प्रायः रोया करती थी। एक दिन जब मैंने जाकर उससे उसके दुःख का कारण पूछा तो उसने अपना पहला वैभव बतलाते हुए कहा कि मेरे दुःख का कारण मेरी जीभ का चटोरपन है, बहुत समझाती हूँ फिर भी दुखी रहती हूँ। जिस जमाने में मैं स्वादिष्ट पदार्थ खाती थी, प्रायः रोगी रहा करती थी, औषधियों की दासी बनी हुई थी। अब जब से वह पदार्थ नहीं मिलते बिलकुल स्वस्थ रहती हूँ, किसी भी औषधि की शरण नहीं लेनी पड़ती। मन को बहुत समझाती हूँ कि अब नाना प्रकार के साग, अचार, मुरब्बे, सोंठ, चटनी, रायते, मिठाइयों और पकवानों के दिन गए। अब उनका स्मरण करने से कोई फायदा नहीं फिर भी जीभ मानती नहीं है। मेरा बेटा रूखी-सूखी खाकर पेट भर लेता हैऔर आनंदित रहता है। क्योंकि उसने वह दिन

देखे नहीं। वह जिह्वा का गुलाम नहीं हुआ है, परंतु मेरा दो-तीन साग बनाए बिना पेट नहीं भरता। रानाडे ने कहा—जब से मैंने उस महिला की बात सुनी और उसकी वह दशा देखी तभी से मैने यह नियम बना लिया कि जीभ जिस पदार्थ को पसंद करे, उसे बहुत थोड़ा खाना, जीभ के वश में न होना, क्योंकि यह आम जीभ को बहुत उच्छा लगा इसलिए मैं अब और नहीं खाऊँगा।

किसी वस्तु के खाने से पहले अपने आप से प्रश्न कीजिए कि उस समय उस वस्तु का खाना आपके लिए आवश्यक है या नहीं, अथवा उस वस्तु के खाए बिना आप रह सकते हैं या नहीं। यदि उत्तर मिले कि नहीं रह सकते तो उस वस्तु को अवश्य खाइए अन्यथा नहीं।

इस साधन को अपनाने में आपको शारीरिक, आर्थिक या सामजिक किसी प्रकार की भी हानि नहीं होगी। इसके विपरीत इन तीनों दशाओं में भी आपको लाभ ही लाभ होगा । भोग और स्वाद का आनंद तो पशु भी लेते हैं और आपको भी इसका आनंद लेते न जाने कितना समय बीत गया, अब त्याग और अस्वाद का आनंद भी देख लीजिए।

यदि किसी समय आपको इस कल्याण मार्ग को अपनाने की प्रेरणा मिले तो आप सबसे प्रथम भोजन में से खोआ, मैदा, बेसन से बनी हुई चीजों का त्याग कर दीजिए। यदि आपको पारमार्थिक या धार्मिक जीवन की ओर रुचि न भी हो तब भी इस साधन को अपनाने में आपके स्वास्थ्य को बड़ा लाभ पहुँचेगा। पढ़े-लिखे व्यक्तियों में आजकल जितने रोग हैं, उन सबके पीछे उपर्युक्त वस्तुओं की भोजन में प्रधानता होना ही मुख्य कारण है।

अस्वाद व्रत द्वारा यदि आपने प्रयास किया और निरंतर अभ्यास करते रहे तो आप अवश्य बुद्धियोग के द्वारा ज्ञान, भक्ति या कर्म किसी से भी योग करके सच्चा सुख और शांति प्राप्त करते हुए अपने वास्तविक सत्यं, शिवं, सुंदरम्, स्वरूप को प्राप्त हो जाएँगे।

इंद्रिय संयम और ब्रह्मचर्य व्रत

ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा सर्वविदित है। इसकी शक्ति अमोघ मानी गई है और आज संसार में जितने व्यक्तियों ने महान और उपयोगी काम कर दिखाए हैं, वे किसी न किसी रूप में ब्रह्मचर्य के अनुगामी थे। जैसा अनेक बार बतलाया जा चुका है, ब्रह्मचर्य का मतलब यह नहीं कि कामवृत्ति का सर्वथा परित्याग ही कर दिया जाए। उचित अवस्था प्राप्त

होने पर शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार उसको प्रयोग करना किसी ने बुरा नहीं बतलाया। इतना ही नहीं, शास्त्रकारों ने तो उस गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी ही बतलाया है जो केवल अपनी स्त्री तक सीमित रहकर नियमानुकूल आचरण करता है।

ब्रह्मचर्य का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तीन तत्त्व मिलते हैं :

(१) **आत्मसंयम**—ब्रह्मचर्य यथार्थ में शक्ति संयम ही है।

(२) **सादगी**—भोजन, वेश तथा जीवन के प्रत्येक अंग में, दैनिक जीवन की हर एक बात में सादगी रखना, इसी की युवकों को जरूरत है। जो लोग जरूरतों के बढ़ाने ही को सभ्यता का अर्थ समझते हैं, उनसे मैं सहमत नहीं, सच्ची सभ्यता सादगी में हैं, न कि संग्रह में।

(३) **विचारशक्ति**—ब्रह्मचर्य एक आंतरिक शक्ति है। विचारशक्ति का विकास किस प्रकार हो सकता है, सादगी का जीवन किस प्रकार आचरण में लाया जा सकता है तथा आत्मसंयम या आत्मशक्ति किस प्रकार बढ़ सकती है ? इन बातों का विवेचन पर्याप्त किया जा चुका है, तो भी कुछ ऐसे साधन और अभ्यास हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य भाव की वृद्धि के लिए पालन करना आवश्यक है।

प्राचीन और आधुनिक में जो बड़ा भारी भेद है, वह है ब्रह्मचर्य और भोग का। वर्तमान आदर्शों के आंतरिक महत्त्व को मैं नहीं भुलाता। आजकल के वैज्ञानिक विवेचन, आलोचनात्मक भाव तथा राजनीतिक स्वतंत्रता की भावनाओं का मैं अनादर नहीं करता। किंतु आधुनिक सभ्यता की इन आंतरिक और गूढ़तर भावनाओं पर हमारी शालाओं में आजकल जोर नहीं दिया जाता। वहाँ तो आधुनिक सभ्यता के ऊपरी पहलू और गलत भावनाओं तथा दुर्गुणों पर ही दृष्टि रखी जाती है। नवयुवक भोग के पीछे दौड़ रहे हैं। वे भूल जाते हैं कि सभ्यता का अर्थ जरूरतों की बढ़ोत्तरी या कामनाओं का संग्रह नहीं, किंतु उनकी सादगी है। वे नहीं समझते कि मनुष्यता का नियम आत्मभोग नहीं, किंतु आत्मसंयम है। प्राचीन भारत ने यह अनुभव किया था कि मनुष्य भोग विलासी जानवर नहीं, किंतु वह एक दिव्यपुरुष है, जो आत्मसंयम और आत्मतपस्या के द्वारा अपनी दिव्य मनुष्यता का अनुभव प्राप्त करना चाहता है। प्राचीन आदर्श ब्रह्मचर्य था, वर्तमान आदर्श बहुतों की दृष्टि में भोगचर्या जान पड़ता है। वे आराम-तलबी और विलासिता चाहते हैं, पर हिंदू शास्त्रों के अनुसार तपस्या ही सभ्यता और सृष्टि की आधारशिला है।

संयम और सदाचार की महिमा

अपने जीवन को शुद्ध और समृद्ध बनाने की साधना जिन्होंने की है, वे अनुभव से कहते आए हैं कि '**अहारशुद्धो सत्वशुद्धिः**' इस सूत्र के दो अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि सत्य के दो माने हैं—शरीर का संगठन और चारित्र्य। अगर आहार शुद्ध है, याने स्वच्छ है, ताजा है, परिपक्व है, सुपाच्य है, प्रमाणयुक्त है और उसके घटक परंपरानुकूल हैं तो उसके सेवन से शरीर के रक्त, मज्जा, शुक्र आदि सब घटक शुद्ध होते हैं। वात, पित्त, कफ आदि की साम्यावस्था रहती है और सप्तधातु परिपुष्ट होकर शरीर सुदृढ़ कार्यक्षम तथा सब तरह के आघात सहन करने के योग्य बनता है और इस आरोग्य का मन पर भी अच्छा असर होता है। '**आहारशुद्धिः**' का दूसरा और व्यापक अर्थ यह है कि आहार यदि प्रामाणिक है, हिंशाशून्य है और यज्ञ, दान, तप का फर्ज अदा करने के बाद प्राप्त किया गया है तो उससे चारित्र्य शुद्धि में पूरी-पूरी मदद मिलती है। चारित्र्य शुद्धि का आधार इस प्रकार की आहार शुद्धि पर ही निर्भर है।

अगर यह बात सही है, आहार का चरित्र पर इतना असर है तो बिहार का याने लैंगिक शुद्धि का चरित्र पर कितना प्रभाव हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं होना चाहिए।

जिसे हम काम विकार कहते हैं अथवा लैंगिक आकर्षण कहते हैं, वह केवल शारीरिक भावना नहीं है। मनुष्य के सारे के सारे पहलू उसमें उत्तेजित हो जाते हैं और अपना-अपना काम करते हैं। इसलिए जिसमें शरीर, मन, हृदय की भावनाएँ और आत्मिक निष्ठा, सबका सहयोग अपरिहार्य है, ऐसी प्रवृति का विचार एकांगी दृष्टि से नहीं होना चाहिए। जीवन के सार्वभौम और सर्वोत्तम मूल्य से ही उसका विचार करना चाहिए। जिस आचरण में शारीरिक प्रेरणा के वश में होकर बाकी के सब तत्त्वों का अपमान किया जाता है, वह आचरण समाज द्रोह तो करता ही है, लेकिन उससे भी अधिक अपने व्यक्तित्व के प्रति महान द्रोह करता है।

लोग जिसे वैवाहिक प्रेम कहते हैं, उसके तीन पहलू हैं। एक भोग से संबंद्ध रखता है, दूसरा प्रजा तंतु से और तीसरा भावना की उत्कटता से। पहली प्रधानता शारीरिक है, दूसरी मुख्यतः सामाजिक और व्यापक अर्थ में आध्यात्मिक। यह तीसरो तत्त्व सबसे महत्त्व का सार्वभौम है और उसी का असर जब पहले दोनों के ऊपर पूरा-पूरा पड़ता है, तभी वे दोनों उत्कट, तृप्तिदायक और पवित्र बनते हैं।

इन तीनों तत्त्वों में से पहला तत्त्व बिलकुल पार्थिव होने से उसकी स्वाभाविक मर्यादाएँ भी होती हैं, भोग से शरीर क्षीण होता है। अति सेवन से भोगशक्ति भी क्षीण होती है और भोग भी नीरस हो जाते हैं। भोग से संयम का प्रमाण जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक उसकी उत्कृष्टता होगी। भोग में संयम का तत्त्व आने से ही उसमें आध्यात्मिकता आ सकती है। संयमपूर्ण भोग में ही निष्ठा और आध्यात्मिकता आकर टिक सकते हैं। संयम और निष्ठा के बिना वैवाहिक जीवन का सामाजिक पहलू कृतार्थ हो ही नहीं सकता। केवल लाभ-हानि की दृष्टि से देखा जाए तो वैवाहिक जीवन का परमोत्कर्ष संयम और अनन्यनिष्ठा में ही है। भोगतत्त्व हार्दिक और आत्मिक होने से उसके विकास की कोई मर्यादा ही नहीं है।

आजकल के लोग जब कभी लैंगिक नीति की स्वच्छंदता का प्रचार करते हैं, तब वे केवल भोगप्रधान पार्थिव अंश को ही ध्यान में लेते हैं। जीवन की इतनी क्षुद्र कल्पना वे ले बैठे हैं कि थोड़े ही दिनों में उन्हें अनुभव हो जाता है कि ऐसी स्वतंत्रता में किसी किस्म की सिद्धि नहीं है और न सच्ची तृप्ति। ऐसे लोगों ने अगर उच्च आदर्श ही छोड़ दिया तो फिर उनमें तारक असंतोष भी नहीं बच पाता। विवाह संबंध में केवल भोग के संबंध का विचार करने वाले लोगों ने भी अपना अनुभव जाहिर किया है—

एतत्कामफल लोके यत् द्वयोः एतचित्तता।
अन्य चित्तकृते कामे शवयो इव संगमः ॥

यह एक चित्तता यानि हृदय की एकता अथवा स्नेहग्रंथि अन्योन्य निष्ठा और अपत्य निष्ठा के बिना टिक ही नहीं सकती। बढ़ने की बात दूर रही।

संयम और निष्ठा ही सामाजिकता की सच्ची बुनियाद है। संयम से जो शक्ति पैदा होती है, वही चरित्र का आधार है। जो आदमी कहता है कि मैं संयम नहीं कर सकता, वह चरित्र की छोटी-मोटी एक भी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा। इसलिए संयम ही चरित्र का मुख्य आधार है।

चरित्र का दूसरा आधार है निष्ठा। व्यक्ति का जीवन तभी कृतार्थ हो सकता है, जब वह स्वतंत्रतापूर्वक समष्टि में विलीन हो जाता है। व्यक्ति स्वातंत्र्य को सँभालते हुए अगर समाजपरायणता सिद्ध करनी हो तो वह अनन्य निष्ठा के बिना हो नहीं सकती और अखिल समाज के प्रति एकसी अनन्य निष्ठा तभी सिद्ध होती है, जब ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अर्थात कम से कम वैवाहिक जीवन को परस्पर दृढ़ निष्ठा से प्रारंभ करता है।

अनन्य निष्ठा जब आदर्श कोटि तक पहुँचती है, तब वहीं से सच्ची समाजसेवा शुरू होती है।

अंत में हम यही कहना चाहते हैं कि 'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।' अगर आपने अपने मन को वश में कर लिया है और आप उस पर विवेक का अकुंश रखते हैं तो आपको संसार के व्यवहार करते हुए भी कोई कठिनाई प्रतीत न होगी। वैराग्य, त्याग, विरक्ति—इन महातत्त्वों का सीधा संबंध अपने मनोभावों से है। यदि भावनाएँ संकीर्ण हों, कलुषित हों, स्वार्थमयी हों तो चाहे कैसी भी उत्तम सात्विक स्थिति में मनुष्य क्यों न रहे, मन का विकार वहाँ भी पाप की सृष्टि करेगा। यदि भावनाएँ उदार एवं उत्तम हैं तो अनमिल और अनिष्टकारक स्थिति में भी मनुष्य पुण्य एवं पवित्रता उत्पन्न करेगा। **महात्मा इमर्सन** कहा करते थे कि "मुझे नरक में भेज दिया जाए तो भी मैं वहाँ अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।" वास्तविक बात यही है कि बुराई-भलाई हमारे ही मन से उत्पन्न होती है। हमारी इंद्रियाँ अगर बुरे मार्ग पर जाती हैं तो उसकी जिम्मेदारी किसी दूसरे पर नहीं वरन स्वयं मन पर ही है। अगर हमारा मन सुमार्गगामी रहकर इंद्रियों को संयम में रखे तो समस्त सांसारिक कार्यों को करते हुए भी हम सादगी के अधिकारी बन सकते हैं।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

गायत्री महाविद्या घर-घर पहुँचाएँ

गायत्री महामंत्र के अक्षरों में बीज रूप से मानवी संस्कृति एवं आदर्शवादिता के सारे सिद्धांत सन्निहित हैं। इसे विश्व का सबसे छोटा मात्र चौबीस अक्षरों का वह ग्रंथ कह सकते हैं, जिसमें धर्म और अध्यात्म का समूचा तत्वज्ञान सार रूप में समाविष्ट मिल सकता है। इन अक्षरों की व्याख्या में वह सब कुछ है जो मानवी प्रगति एवं सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है। यह प्रज्ञा का, विवेकशीलता का मंत्र है। गायत्री महाविद्या का ३२ पुस्तकों का सेट प्रत्येक अक्षर की व्याख्या एवं संदेश हर साधक को नियमित पढ़ना चाहिए।

इन दिनों सारे समाज, सारे वातावरण में अनीति, बेईमानी, चरित्रहीनता, तृष्णा, लिप्सा और क्षुद्र अहंकार का जो विष समा गया है, उसे धोने के लिए यज्ञ और गायत्री के व्यापक विस्तार की क्रांति खड़ी करनी पड़ेगी। इस युग की जाग्रत आत्माओं को अपना कर्त्तव्य समझकर इसे पूरा करना है।

क्या करें ? कैसे करें ? : (१) जाग्रत आत्माएँ न्यूनतम १००-१०० मंत्रलेखन पुस्तकें मँगाकर अपने-अपने समीपवर्ती क्षेत्रों में मंत्रलेखन की प्रेरणा देकर साधक बनाने का प्रयास करें। व्यस्त साधक अपने १० इष्ट-मित्र-सहयोगियों को १०-१० मंत्रलेखन पुस्तकें देकर १०० साधक भी बना सकते हैं।

(२) प्रत्येक गायत्री साधक को अपने घर पर देवस्थापना हेतु पंचदेव का चित्र स्थापित करना चाहिए। इस देव मंदिर के साथ-साथ गायत्री ज्ञान मंदिर स्थापित करने के लिए गायत्री महाविद्या सेट (३२ पुस्तकें ब्रह्मभोज मूल्य ७० रु०) प्रतिदिन एक रुपया अंशदान से एकत्रित राशि से स्थानीय युग साहित्य केंद्र अथवा युग निर्माण योजना, मथुरा से प्राप्त करना चाहिए।

(३) प्राणवान कार्यकर्त्ता स्तर के साधकों को १०० मंत्रलेखन पुस्तिकाओं के १००), न्यूनतम १० गायत्री महाविद्या सेटों के ७०० रु० तथा डाक खरच १६५ रु० कुल ९६५ रु० भेजकर मँगा लेने चाहिए तथा ७०) प्रति सेट गायत्री साधकों के घरों पर ज्ञान मंदिर के रूप में स्थापित कराना चाहिए। डाक खरच कार्यकर्त्ताओं को स्वयं गायत्री विद्या के प्रचार हेतु चलाए जा रहे आंदोलन में लगाना चाहिए।

(४) दानवीर भामाशाहों के सहयोग से गायत्री तपोभूमि से गायत्री महाविद्या के प्रचार हेतु इस आंदोलन में इस साहित्य को आधे मूल्य में उपलब्ध कराया जा रहा है। धनीमानी दानवीरों से अनुरोध है कि इस पुण्य-कार्य में अनुदान भेजकर अपने धन का सदुपयोग करें, पुण्य के भागीदार बनें, माता की कृपा प्राप्त करें।